न्यायपालिका की स्वतंत्रता

प्रस्तावना

न्यायपालिका की स्वतंत्रता या **न्यायिक स्वातंत्र्य** (Judicial independence) से आशय यह है कि न्यायपालिका को सरकार के अन्य अंगों (विधायिका और कार्यपालिका) से स्वतन्त्र हो। इसका अर्थ है कि न्यायपालिका सरकार के अन्य अंगों से, या किसी अन्य निजी हित-समूह से अनुचित तरीके से प्रभावित न हो। यह एक महत्वपूर्ण परिकल्पना है। न्यायिक स्वातंत्र्य के लिए भिन्न-भिन्न देश भिन्न-भिन्न उपाय करते हैं।

न्यायपालिका अपने कार्यों को निष्पक्षता तथा कुशलता से तभी कर सकती है जब वह स्वतंत्र हो। न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अर्थ है कि न्यायाधीश स्वतंत्र , निष्पक्ष तथा निडर होनी चाहिए। न्यायधीश निष्पक्षता से न्याय तभी कर सकते हैं जब उन पर किसी प्रकार का दबाव न हो। न्यायपालिका, विधानमण्डल तथा कार्यपालिका के अधीन नहीं होनी चाहिए।

भारतीय संविधान में सरकार के तीनों अंगों के मध्य शक्तियों का पृथक्करण किया गया है। इसके तहत नागरिकों के अधिकारों का विधिवत संरक्षण सुनिश्चित करने तथा शक्तियों के दुरुपयोग को रोकने के लिए इन तीनों अंगों के मध्य पर्याप्त नियंत्रण और संतुलन की व्यवस्था की गयी है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता

हालांकि न्यायाधीश डर या पक्षपात के बिना न्याय करने की शपथ लेते हैं, लेकिन अपमानजनक आलोचना की आशंकाओं ने उन्हें इस मामले से हटने के लिए मजबूर कर दिया। यह ठीक है कि कुछ कनिष्ठ जजों ने समय–समय पर आपत्तिजनक निर्णय देकर अपने पद की गरिमा को ठेस पहुंचाई है, मगर इस मामले में कार्रवाई हुई है३

न्यायपालिका की स्वतंत्रता का आशय है कि सरकार के अन्य अंग विधायिका, कार्यपालिका व मीडिया न्यायालय के कार्य में कोई बाधा न डालें ताकि वह निष्पक्ष रूप से न्याय दे सके। न्यायपालिका अपने कार्य को निष्पक्षता तथा कुशलता से तभी कर सकती है जब वह स्वतंत्र और निष्पक्ष हो तथा उस पर किसी प्रकार का दबाव न हो। 'न्याय केवल होना ही नहीं चाहिए, बल्कि इसे होते हुए देखा भी जाना चाहिए वाली उक्ति तभी प्रमाणित हो सकती है जब न्यायालयों की कार्यप्रणाली में कोई हस्तक्षेप व दबाव न हो। न्यायपालिका के सदस्यों का व्यवहार व आचरण न्यायपालिका की निष्पक्षता के प्रति लोगों के विश्वास की पुष्टि करता है। न्यायाधीशों की अपनी एक गरिमा होती है तथा उन्हें पृथकता का स्तर बनाए रखना पड़ता है। न्यायपालिका की स्वतत्रंता के कुछ सिद्धांत होते हैं तथा विधि का विधान यानी कानून सर्वोपरि होता है जो कि समान रूप से लागू होता है। न्यायपालिका के कार्यों व निर्णयों की मनमाने ढंग से आलोचना नहीं होनी चाहिए। आज जिस ढंग से मीडिया ट्रायल स्वतंत्र न्यायपालिका पर भारी पड़ता जा रहा है उसके जज साहिबान भी तनावग्रस्त देखे जा सकते हैं। वास्तव में मीडिया के कुछ लोगों को कानून की न्यायिक प्रक्रिया व विधि–विधान की बारीकियों का ज्यादा ज्ञान नहीं होता तथा वो अधजल गगरी की तरह ही छलकते हुए कुछ ज्यादा ही प्रतीत होते हैं। सर्वोच्च न्यायालय को तो पूर्ण अधिकार है कि वह अधीनस्थ न्यायाधीशों के निर्णयों के पुनः संज्ञान ले तथा जरूरत पडने पर उन्हें प्रताडि़त भी करे, मगर हर कोई व्यक्ति, संस्था व सरकार को ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है। वास्तव में मीडिया ट्रायल पर कोई अंकुश नहीं है तथा अब सोशिल मीडिया तो सारी सीमाएं लांघ रहा है तथा कुछ भी लिखने से परहेज नहीं करता। उदाहरणतः पालघर में साधुओं की हत्या, महामारी में तबलीगी जमात की कथित संलिप्तता,

अभिनेता सुशांत सिंह राजपूत की रहस्यमय परिस्थितियों में मृत्यु तथा इसी तरह अन्य कई केसों में मीडिया ने अपने ही ट्रायल शुरू कर दिए तथा न्याय व्यवस्था में दबाव डालने का भरसक प्रयत्न किया। इसी तरह सरकार भी कई बार न्यायालयों के निर्णयों के खिलाफ राजनीति को ध्यान में रखते हुए अपनी मर्जी से कई अधिनियमों में संशोधन कर देती है तथा जाहिर है कि ऐसा करने से जजों का तनावग्रस्त होना स्वाभाविक हो जाता है। इसके अतिरिक्त जजों को अपराधियों व आतंकवादियों द्वारा भी समय–समय पर धमकियां मिलती रहती हैं तथा कई बार तो उन्हें अपनी जान भी गंवानी पड़ी। इस संबध में कुछ एक उदाहरणों का उल्लेख इस प्रकार से है। 1. वर्ष 1989 में जम्मू–कश्मीर के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश नीलकंठ गंजू का आतंकवादियों ने इसलिए कत्ल कर दिया था क्योंकि उन्होंने मकबूल भट्ट नामक आतंकवादी को एक पुलिस इंसपैक्टर की हत्या के लिए वर्ष 1968 में (जब वो सैशन जज थे) फांसी की सजा दी थी। ऐसी घटनाएं निश्चित तौर पर न्यायपालिका के वर्ग को आतंकित करती रहती हैं।

2. जुलाई 2021 में धनवाद के जज उत्तम चंद को जब वह सुबह की सैर कर रहे थे एक ऑटो रिक्शा वाले ने टक्कर मार कर मौत के घाट उतार दिया। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि वह बहुत ही संवेदनशील मुकद्दमे का ट्रायल कर रहे थे। 3. वर्ष 2018 में गुरुग्राम के एक जज की पत्नी व उसके बच्चे को जज के सुरक्षा कर्मचारी ने ही गोलियों से भून डाला था। 4. हाल ही में प्रधानमंत्री जी की पंजाब में यात्रा के दौरान कुछ असामाजिक तत्वों ने उनके काफिले को आगे बढने से रोक दिया जिस संबंध में सर्वोच्च न्यायालय में लोगों ने जनहित में याचिकाएं दायर की। जिन एडवोकेट्स व न्यायाधीशों ने याचिकाओं की पैरवी व सुनवाई करनी थी, उन्हें 'सिक्ख फॉर जस्टिस नामक संस्था के लोगों द्वारा धमकी भरे टैलीफोन आने आरंभ हो गए। 5. इसी तरह सर्वोच्च न्यायालय के दो जजों जस्टिस डीवी चंद्रचूड़ और एस. वोपन्ना ने कृष्णानदी जल विवाद की सुनवाई से अपने को इसलिए अलग कर लिया क्योंकि यह विवाद महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र, तेलंगाना राज्यों के बीच पानी के बंटवारे से संबंधित था तथा यह दोनों जज क्रमशः महाराष्ट्र व कर्नाटक के रहने वाले हैं तथा उन्हें सोशिल मीडिया पर ढेरों सारे पक्षपात करने के संबंध में संदेश आने शुरू हो गए थे। हालांकि न्यायाधीश डर या पक्षपात के बिना न्याय करने की शपथ लेते हैं, लेकिन अपमानजनक आलोचना की आशंकाओं ने उन्हें इस मामले से हटने के लिए मजबूर कर दिया। यह ठीक है कि कुछ कनिष्ठ जजों ने समय–समय पर

आपत्तिजनक निर्णय देकर अपने पद की गरिमा को ठेस पहुंचाई है, मगर सर्वोच्च न्यायालय ने हमेशा इसका संज्ञान लेकर उचित कार्रवाई की है। 6. लंबित मामलों की बढ़ती फेहरिस्त भी जजों के तनाव का एक अन्य कारण है।

वर्ष 2019 में विभिन्न न्यायालयों में 4–5 करोड़ मुकद्दमे लंबित थे तथा इस संबंध में रिटायर्ड जस्टिस काटजू का कहना है कि इन सभी मामलों को कलीयर करने में सैंकड़ों वर्ष लग सकते हैं। न्यायालयों व जजों की संख्या में वांछित बढ़ोतरी न होने के कारण जजों के कार्य में अत्यधिक बोझ बढ़ता जा रहा है तथा आम जनता इस देरी के लिए जजों को ही उत्तरदायी ठहराती है। मीडिया विशेषतः इलैक्ट्रानिक मीडिया को अपना समानंतर मीडिया ट्रायल आरंभ नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि इससे जज साहिबानों का दिल और दिमाग प्रभावित हो सकता है। मीडिया को अपनी अभिव्यक्ति की आजादी के अधिकार का इस्तेमाल करते समय अपनी भाषा मर्यादा, संयम और किसी भी जांच में हस्तक्षेप के अनजाने प्रयास में अदृश्य सीमा रेखा नहीं लांघनी चाहिए अन्यथा वह समय दूर नहीं है जब न्यायपालिका संविधान में प्रदत अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के दायरे में आ रही मीडिया के लिए विशेष परिस्थितियों या मामलों के संबंध में कोई लक्ष्मण रेखा नहीं खींच दे। एक अन्य मामले में रिटायर्ड जस्टिस कुरियन ने 2015 में बार काउंसिल में कहा था कि निर्भया हत्याकांड में जजों पर इतना दबाव था जो कि निष्पक्ष ट्रायल में एक बहुत बड़ी बाधा थी। एक जज ने तो यहां तक कह दिया था कि अगर वो कड़ी सजा न देता तो उसे ही लटका दिया होता। इस तरह न्यायपालिका की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप को हर हालत में रोकना होगा।

न्यायिक समीक्षा

हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने सेंट्रल विस्टा परियोजना (ब्मदजतंस टपेजं चतवरमबज) को ऐसी विशिष्ट परियोजना मानने से इनकार कर दिया जिसके लिये बृहत्तर या व्यापक न्यायिक समीक्षा की आवश्यकता हो।

सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि न्यायालय की भूमिका विधि की वैधता और सरकारी कार्यों सहित संवैधानिकता की जाँच करने तक सीमित है। विकास का अधिकार एक बुनियादी मानव अधिकार है और राज्य के किसी भी अंग से विकास की प्रक्रिया में तब तक बाधक बनने की आशंका नहीं होती है जब तक कि सरकार कानून के अनुसार कार्य करती है।

नई दिल्ली की सेंट्रल विस्टा परियोजना में राष्ट्रपति भवन, संसद भवन, उत्तर और दक्षिण ब्लॉक, इंडिया गेट, राष्ट्रीय अभिलेखागार शामिल हैं।

भारतीय संविधान में न्यायिक समीक्षा को अमेरिकी संविधान की तर्ज पर अपनाया गया है।

प्रमुख बिंदुः न्यायिक समीक्षाः

न्यायिक समीक्षा विधायी अधिनियमों तथा कार्यपालिका के आदेशों की संवैधानिकता की जाँच करने हेतु न्यायपालिका की शक्ति है जो केंद्र एवं राज्य सरकारों पर लागू होती है।

कानून की अवधारणाः

विधि द्वारा स्थापित प्रक्रियाः इसका अर्थ है कि विधायिका या संबंधित निकाय द्वारा अधिनियमित कानून तभी मान्य होता है जब सही प्रक्रिया का पालन किया गया हो।

कानून की उचित प्रक्रियाः यह सिद्धांत न केवल इस आधार पर मामले की जाँच करता है कि कोई कानून किसी व्यक्ति को जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित तो नहीं करता है, बल्कि यह भी सुनिश्चित करता है कि कानून उचित और न्यायपूर्ण हो।

भारत में विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है।

न्यायिक समीक्षा के दो महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, जैसे– सरकारी कार्रवाई को वैध बनाना और सरकार द्वारा किये गए किसी भी अनुचित कृत्य के खिलाफ संविधान का संरक्षण करना।

न्यायिक समीक्षा को संविधान की मूल संरचना (इंदिरा गांधी बनाम राज नारायण केस 1975) माना जाता है।

न्यायिक समीक्षा को भारतीय न्यायपालिका के व्याख्याकार और पर्यवेक्षक की भूमिका में देखा जाता है।

स्वतः संज्ञान के मामले और लोक हित याचिका (च्प्स्), लोकस स्टैंडी (स्वबने ैजंदकप) के सिद्धांत को विराम देने के साथ ही न्यायपालिका को कई सार्वजनिक मुद्दों में हस्तक्षेप करने की अनुमति दी गई है, उस स्थिति में भी जब पीड़ित पक्ष द्वारा कोई शिकायत नहीं की गई हो।

न्यायिक समीक्षा के प्रकारः

विधायी कार्यों की समीक्षाः

इस समीक्षा का तात्पर्य यह सुनिश्चित करना है कि विधायिका द्वारा पारित कानून के मामले में संविधान के प्रावधानों का अनुपालन किया गया है।

प्रशासनिक कार्रवाई की समीक्षाः

यह प्रशासनिक एजेंसियों पर उनकी शक्तियों निर्वहन करते समय उनपर संवैधानिक अनुशासन लागू करने के लिये एक उपकरण है।

न्यायिक निर्णयों की समीक्षाः

इस समीक्षा का उपयोग न्यायपालिका द्वारा पिछले निर्णयों में किसी भी प्रकार का बदलाव करने या उसे सही करने के लिये किया जाता है।

न्यायिक समीक्षा का महत्त्वः

यह संविधान की सर्वोच्चता बनाए रखने के लिये आवश्यक है।

विधायिका और कार्यपालिका द्वारा सत्ता के संभावित दुरुपयोग की जाँच करने के लिये आवश्यक है।

यह लोगों के अधिकारों की रक्षा करता है।

यह संघीय संतुलन बनाए रखता है।

यह न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुरक्षित करने के लिये आवश्यक है।

यह अधिकारियों के अत्याचार को रोकता है।

न्यायिक समीक्षा से संबंधित मुद्देः

यह सरकार के कामकाज को सीमित करती है।

जब यह किसी मौजूदा कानून को अधिभावीध्रद्द (व्अमततपकमे) करता है तो यह संविधान द्वारा स्थापित शक्तियों की सीमा का उल्लंघन है।

भारत में शक्तियों के बजाय कार्यों का पृथक्करण किया गया है।

शक्तियों के पृथक्करण की अवधारणा का कड़ाई से पालन नहीं किया जाता है। हालाँकि जाँच और संतुलन (बैमबो ंदक ठंसंदबमे) की व्यवस्था इस तरह से की गई है कि न्यायपालिका के पास विधायिका द्वारा पारित किसी भी असंवैधानिक कानून को रद्द करने की शक्ति है।

न्यायाधीशों द्वारा किसी मामले में लिया गया निर्णय अन्य मामलों के लिये मानक बन जाता है, हालाँकि अन्य मामलों में परिस्थितियाँ अलग हो सकती हैं।

न्यायिक समीक्षा व्यापक पैमाने पर आम जनता को नुकसान पहुँचा सकती है, क्योंकि किसी कानून के विरुद्ध दिया गया निर्णय व्यक्तिगत उद्देश्यों से प्रभावित हो सकता है।

न्यायालय के बार–बार हस्तक्षेप करने से सरकार की ईमानदारी, गुणवत्ता और दक्षता पर लोगों का विश्वास कम हो सकता है।

न्यायिक समीक्षा संबंधी संवैधानिक प्रावधान

किसी भी कानून को अमान्य घोषित करने के लिये न्यायालयों को सशक्त बनाने संबंधी संविधान में कोई भी प्रत्यक्ष अथवा विशिष्ट प्रावधान नहीं है, लेकिन संविधान के तहत सरकार के प्रत्येक अंग पर कुछ निश्चित सीमाएँ लागू की गई हैं, जिसके उल्लंघन से कानून शून्य हो जाता है।

न्यायालय को यह तय करने का कार्य सौंपा गया है कि संविधान के तहत निर्धारित सीमा का उल्लंघन किया गया है अथवा नहीं है।

न्यायिक समीक्षा की प्रक्रिया का समर्थन करने संबंधी कुछ विशिष्ट प्रावधान

अनुच्छेद 372 (1): यह अनुच्छेद भारतीय संविधान के लागू होने से पूर्व बनाए गए किसी कानून की न्यायिक समीक्षा से संबंधित प्रावधान करता है।

अनुच्छेद 13: यह अनुच्छेद घोषणा करता है कि कोई भी कानून जो मौलिक अधिकारों से संबंधित किसी प्रावधान का उल्लंघन करता है, मान्य नहीं होगा।

अनुच्छेद 32 और अनुच्छेद 226 सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय को मौलिक अधिकारों का रक्षक एवं गारंटीकर्त्ता की भूमिका प्रदान करते हैं।

अनुच्छेद 251 और अनुच्छेद 254 में कहा गया है कि संघ और राज्य कानूनों के बीच असंगतता के मामले में राज्य कानून शून्य हो जाएगा।

अनुच्छेद 246 (3) राज्य सूची से संबंधित मामलों पर राज्य विधायिका की अनन्य शक्तियों को सुनिश्चित करता है।

अनुच्छेद 245 संसद एवं राज्य विधायिकाओं द्वारा निर्मित कानूनों की क्षेत्रीय सीमा तय करने से संबंधित है।

अनुच्छेद 131–136 में सर्वोच्च न्यायालय को व्यक्तियों तथा राज्यों के बीच, राज्यों तथा संघ के बीच विवादों में निर्णय लेने की शक्ति प्रदान की गई है।

अनुच्छेद 137 सर्वोच्च न्यायालय को उसके द्वारा सुनाए गए किसी भी निर्णय या आदेश की समीक्षा करने हेतु एक विशेष शक्ति प्रदान करता है।

न्यायिक सक्रियताः

न्यायिक सक्रियता नागरिकों के अधिकारों की रक्षा में न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका को दर्शाती है।

न्यायिक सक्रियता का अभ्यास सबसे पहले संयुक्त राज्य अमेरिका में शुरूऔर विकसित हुआ।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों को किसी भी कानून की संवैधानिकता की जाँच करने की शक्ति प्राप्त है और यदि ऐसा कानून संविधान के प्रावधानों के साथ असंगत पाया जाता है, तो अदालत कानून को असंवैधानिक घोषित कर सकती है।

यह ध्यान दिया जाना चाहिये कि अधीनस्थ न्यायालयों के पास कानूनों की संवैधानिकता की समीक्षा करने की शक्ति नहीं है।

मूल (व्तपहपद):

न्यायिक सक्रियता शब्द वर्ष 1947 में इतिहासकार आर्थर स्लेसिंगर जूनियर द्वारा गढ़ा गया था।

भारत में न्यायिक सक्रियता की नींव न्यायमूर्ति वी.आर कृष्ण अय्यर, न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती, न्यायमूर्ति ओ.चिन्नप्पा रेड्डी और न्यायमूर्ति डी.ए. देसाई ने रखी थी।

आलोचनाः

न्यायिक सक्रियता ने संसद और सर्वोच्च न्यायालयों के बीच सर्वोच्चता के संबंध में विवाद को जन्म दिया है।

यह शक्तियों के पृथक्करण, नियंत्रण और संतुलन के नाजुक सिद्धांत को बिगाड़ सकता है।

न्यायिक संयमः

न्यायिक संयम न्यायिक सक्रियता का विपरीत शब्द है।

न्यायिक संयम न्यायिक व्याख्या का एक सिद्धांत है जो न्यायाधीशों को अपनी शक्ति के प्रयोग को सीमित करने के लिये प्रोत्साहित करता है।

संक्षेप में न्यायालयों को कानून की व्याख्या करनी चाहिये और नीति–निर्माण में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

न्यायाधीशों को हमेशा निम्नलिखित के आधार पर मामलों का निर्णय करने का प्रयास करना चाहियेः

संविधान लिखने वालों का मूल उद्देश्य।

मिसालध्उदाहरण – एक जैसे मामलों में पिछले फैसले।

साथ ही अदालत को नीति निर्धारण दूसरों पर छोड़ देना चाहिये।

यहाँ अदालतें अपने निर्णयों के साथ नई नीतियाँ निर्धारित करने से खुद को ''रोक'' देती हैं।

न्यायिक सक्रियता की आवश्यकताः

न्यायपालिका की बढ़ती भूमिका को समझने के लिये उन कारणों को जानना आवश्यक है जिनकी वजह से न्यायपालिका सक्रिय भूमिका निभा रही है।

सरकार के अन्य अंगों जैसे– कार्यपालिका, विधायिका में बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार।

कार्यपालिका का अपने काम में कठोर होना और अपेक्षित परिणाम देने में विफल रहना।

संसद का अपने विधायी कर्तव्यों से अनभिज्ञ होना।

लोकतंत्र के सिद्धांतों का लगातार क्षरण होना।

जनहित याचिकाओं द्वारा सार्वजनिक मुद्दों की तात्कालिकता को सामने लाना।

ऐसे में न्यायपालिका को सक्रिय भूमिका निभाने के लिये मजबूर होना पड़ा। यह न्यायपालिका जैसी संस्था के माध्यम से ही संभव था, जिसमें समाज में विभिन्न गलतियों को सुधारने की शक्तियाँ निहित हैं। लोकतंत्र से समझौते को रोकने के लिये सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने इन समस्याओं के समाधान की जिम्मेदारी ली।

उदाहरण के लिये जी. सत्यनारायण बनाम ईस्टर्न पावर डिस्ट्रीब्यूशन कंपनी (वर्ष 2004) मामले में न्यायमूर्ति गजेंद्र गडकर ने फैसला सुनाया कि यदि किसी कर्मचारी को कदाचार के आधार पर बर्खास्त किया जाता है तो एक अनिवार्य जाँच की जानी चाहिये और उसे अपना बचाव करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिये। इस फैसले ने श्रम कानून में नियमों को जोड़ा जिसे कानून द्वारा नजरअंदाज कर दिया गया।

इसी तरह विशाखा बनाम राजस्थान राज्य (वर्ष 1997) एक महत्त्वपूर्ण मामला है जो न्यायिक सक्रियता की आवश्यकता की याद दिलाता है। यहाँ सर्वोच्च न्यायालय ने दिशा–निर्देश निर्धारित किये जिनका पालन सभी कार्यस्थलों में किया जाना चाहिये ताकि महिलाओं के साथ उचित व्यवहार को सुनिश्चित किया जा सके। इसने आगे कहा कि इन दिशा–निर्देशों को एक कानून के रूप में माना जाना चाहिये जब तक कि संसद लैंगिक समानता को लागू करने के लिये कानून नहीं बनाती।

न्यायिक सक्रियता के कुछ अन्य प्रमुख मामले हैं:

केशवानंद भारती मामला (वर्ष 1973): भारत के शीर्ष न्यायालय ने घोषणा की कि कार्यपालिका को संविधान के मूल ढाँचे में हस्तक्षेप करने और छेड़छाड़ करने का कोई अधिकार नहीं है।

शीला बरसे बनाम महाराष्ट्र राज्य (वर्ष 1983): इस मामले में एक पत्रकार द्वारा जेल में महिला कैदियों की हिरासत के दौरान हिंसा के संबंध में एक पत्र के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय को सूचित किया गया। न्यायालय ने उस पत्र को एक रिट याचिका के रूप में माना और मामले का संज्ञान लिया।

आई.सी. गोलकनाथ एवं अन्य बनाम पंजाब राज्य और अन्य (वर्ष 1967): सर्वोच्च न्यायालय ने घोषणा की कि भाग– 3 में निहित मौलिक अधिकार इम्यून और इन्हें विधानसभा द्वारा संशोधित नहीं किया जा सकता है।

हुसैनारा खातून (ए) बनाम बिहार राज्य (वर्ष 1979): एक समाचार पत्र में प्रकाशित लेखों के माध्यम से विचाराधीन कैदियों के खिलाफ अमानवीय और बर्बरता की स्थिति पर प्रकाश डाला गया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत, शीर्ष अदालत ने इसे स्वीकार किया और माना कि त्वरित सुनवाई का अधिकार एक मौलिक अधिकार है।

ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य (वर्ष 1950): भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने इस तर्क को खारिज कर दिया कि किसी व्यक्ति को उसके जीवन या स्वतंत्रता से वंचित करने के लिये न केवल कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया का पालन किया जाना चाहिये, बल्कि यह भी कि ऐसी प्रक्रिया निष्पक्ष एवंउचित होनी चाहिये।

न्यायिक संयमः

न्यायिक संयम सरकार के तीन अंगों– न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका के बीच संतुलन बनाए रखने में मदद करता है।

विधायिका में सरकार द्वारा स्थापित कानून को बनाए रखने के लिये।

विधायिका और कार्यपालिका को उनके कार्यक्षेत्र में दखल न देकर कर्तव्यों का पालन करने की अनुमति देना।

नीतियों के निर्माण का कार्य नीति निर्माताओं पर छोड़कर सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप के प्रति सम्मान को चिह्नित करना।

न्यायिक के प्रति रुझानः

एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (वर्ष 1994) मामला इस संबंध में एक प्रमुख उदाहरण है जिसे न्यायपालिका द्वारा न्यायिक संयम दिखाने के रूप में देखा जाता है। फैसले में कहा गया कि कुछ मामलों में न्यायिक समीक्षा संभव नहीं है क्योंकि मामला राजनीतिक होता है। अदालत के अनुसार, अनुच्छेद 356 की शक्ति एक राजनीतिक प्रश्न है, इस प्रकार न्यायिक समीक्षा से इनकार कर दिया। न्यायालय ने कहा कि अगर राजनीतिक मामलों पर न्यायपालिका के मानदंड लागू होते हैं तो यह राजनीतिक क्षेत्र में हस्तक्षेप होगा और न्यायालय ऐसा करने से बचेगा।

इसी प्रकार अलमित्र एच. पटेल बनाम भारत संघ (वर्ष 1998) मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने दिल्ली की सफाई की जिम्मेदारी सौंपने के मुद्दे पर नगर निगम को निर्देश देने से इनकार कर दिया और कहा कि वह केवल अधिकारियों को कानून के अनुसार सौंपे गए कर्तव्य को पूरा करने के लिये कह सकता है।

न्यायिक अतिरेक (श्रनकपबपंस व्अमततमंबी):

विधायी और कार्यकारी लापरवाही या अक्षमता का प्रत्यक्ष प्रभाव ''न्यायिक अतिरेक'' है।

कमजोर और अविवेकपूर्ण परिणाम, न केवल कानून बनाने में, बल्कि उनके आवेदन में भी।

भारतीय न्यायपालिका की कई कानूनी विद्वानों, वकीलों और स्वयं न्यायाधीशों द्वारा अत्यधिक सक्रिय भूमिका निभाने और अतिरेक के लियेआलोचना की गई है।

न्यायिक अतिरेक का प्रभावः

चूँकि विधायिका अपने कार्य में पिछड़ रही है, न्यायपालिका अपने कार्य से आगे निकल जाती है, जिससे विधायिका और न्यायपालिका के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। न्यायपालिका के इस तरह के अतिक्रमण का स्पष्ट प्रभाव इस प्रकार हैं:

यह शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत के लिये खतरा है जो संविधान की भावना को कमजोर करता है। विधायिका और न्यायपालिका के बीच सामंजस्य की कमी है और विधायिका की निष्क्रियता की धारणा जनता में बनी हुई है।

कुछ परिदृश्यों, जैसे– पर्यावरण, नैतिक, राजनीतिक मामलों में विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है जो हमेशा न्यायपालिका के पास नहीं हो सकता है। यदि

इन क्षेत्रों में कोई अनुभव न होने पर भी वह निर्णय देती है तो यह निर्णय न केवल विशेषज्ञता के अभाव में कमजोर होगा बल्कि देश के लिये हानिकारक भी साबित हो सकता है।

न्यायिक अतिरेक जनता द्वारा चुनी गई सरकार या प्रतिनिधित्व के प्रति न्यायपालिका की अवहेलना की अभिव्यक्ति का कारण बन सकता है। यह लोकतांत्रिक संस्था में जनता के विश्वास को कम कर सकता है। अतः न्यायालयों का यह दायित्व है कि वे अपने अधिकार क्षेत्र में रहें और शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को बनाए रखें।

सर्वोच्च न्यायालय ने स्वयं वर्ष 2007 में अन्य अदालतों को न्यायिक संयम बरतने की याद दिलाई है। इसमें कहा गया है, ''न्यायाधीशों को अपनी सीमाएँ पता होनी चाहिये और सरकार को चलाने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। उनमें विनम्रता होनी चाहिये सम्राटों की तरह व्यवहार नहीं करना चाहिये।'' इसके अलावा इसने कहा, ''न्यायिक सक्रियता के नाम पर न्यायाधीश अपनी सीमाओं को पार नहीं कर सकते हैं और उन शक्तियों पर कब्जा करने की कोशिश नहीं कर सकते जो राज्य के दूसरे अंग से संबंधित हैं''।

न्यायिक अतिरेक के उदाहरणः

न्यायिक अतिरेक का एक प्रसिद्ध मामला फिल्म जॉली एलएलबी प्प् की सेंसरशिप है। मामला एक रिट याचिका के रूप में दायर किया गया था और आरोप लगाया कि फिल्म ने कानूनी पेशे को एक मजाक के रूप में चित्रित किया, जिससे यह अवमानना और उकसाने वाला कार्य बन गया। बॉम्बे उच्च न्यायालय ने फिल्म देखने और उस पर रिपोर्ट देने के लिये तीन व्यक्तियों की एक समिति नियुक्त की। इसे अनावश्यक माना गया, क्योंकि फिल्म प्रमाणन बोर्ड पहले से मौजूद है और सेंसर करने की शक्ति उसमें निहित है। समिति की रिपोर्ट के आधार पर निदेशकों ने फिल्म के चार सीन हटा दिये। इसे अनुच्छेद 19(2) के उल्लंघन के रूप में देखा गया, क्योंकि इसने भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाया था।

सड़क सुरक्षा के बारे में एक जनहित याचिका पर सर्वोच्च न्यायालय ने किसी भी राष्ट्रीय या राज्य राजमार्ग के 500 मीटर के दायरे में खुदरा दुकानों, रेस्त्रां, बार में शराब की बिक्री पर प्रतिबंध लगा दिया। न्यायालय के सामने ऐसा कोई सबूत पेश नहीं किया गया जिससे पता चलता हो कि राजमार्गों पर शराबबंदी का संबंध मौतों की संख्या से है। इस फैसले से राज्य सरकारों को राजस्व का नुकसान भी हुआ तथा रोजगार का भी नुकसान हुआ। मामले को न्यायिक

अतिरेक के रूप में देखा गया क्योंकि मामला प्रशासनिक था जिसके लिये कार्यकारी ज्ञान की आवश्यकता थी।

यह कैसे प्रकट होती है?

वाद अनुक्रम (Case Laws)

1. एसपी गुप्ता बनाम भारत संघ (1982) के मामले में, अदालत ने कहा कि न्यायाधीशों को निडर होना चाहिए और कानून के शासन के सिद्धांत को बनाए रखना चाहिए। यह न्यायपालिका की स्वतंत्रता की अवधारणा का आधार है।

2. सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स–ऑन–रिकॉर्ड एसोसिएशन और अन्य बनाम भारत संघ (1993) के मामले में। अदालत ने कहा कि लोकतंत्र के प्रभावी ढंग से कार्य करने के लिए न्यायपालिका की स्वतंत्रता आवश्यक है। अदालत ने आगे यह कहते हुए निष्कर्ष निकाला कि जब तक न्यायपालिका कार्यपालिका और विधायिका से स्वतंत्र रहती है, तब तक शक्तियों और अधिकारों को बाधित नहीं किया जा सकता है।

निष्कर्ष

भारत में न्यायपालिका ने अपनी सक्रियता, विशेष रूप से जनहित याचिका के माध्यम से सक्रिय भूमिका निभाई है। इसने समाज के वंचित वर्गों के अधिकारों को बहाल किया है।

सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने प्रगतिशील सामाजिक नीतियों के पक्ष में काम किया है और नागरिक न्यायपालिका की संस्था का बहुत सम्मान करते हैं।

हालाँकि लोकतंत्र में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत और सरकार के तीनों अंगों की वैधता को बनाए रखना महत्त्वपूर्ण है।

यह तभी संभव हो सकता है जब कार्यपालिका और विधायिका चौकस और क्रियाशील हों।

साथ ही न्यायपालिका को उन गतिविधियों के क्षेत्रों में कदम रखने से सावधान रहना चाहिये जो इससे संबंधित नहीं हैं।